Included in the UGC Approved List of Journals

SAHITYASETU
ISSN: 2249-2372
A Peer-Reviewed Literary e-journal
Website: http://www.sahityasetu.co.in

Year-8, Issue-1, Continuous Issue-43, January - February 2018

हिन्दी कहानियों के सिनेरूपान्तरण की समीक्षा
(‘शतरंज के खिलाड़ी’, ‘सद्गति’ और ‘तीसरी कसम’ के सन्दर्भ में)

साहित्य और सिनेमा अभिव्यक्ति की पारस्परिक जुडी हुई दो स्वतन्त्र धारा हैं। दोनों की निर्माण शैली आदि से अन्त तक भिन्न है। साहित्य जहाँ किसी एक व्यक्ति के मन में उठी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है, वहाँ फिल्म में अनेक व्यक्ति, अनेक पक्ष मिल कर समवेत रूप से सर्जन करते हैं। भारतीय हिन्दी फिल्म के प्रारम्भिक दौर में पौराणिक, ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित फिल्म निर्माण करने की प्रवृत्ति विशेष रही। लगभग औसतन भारतीय दर्शक मनोरंजन प्राप्त करने सिनेमा होल में जाते हैं और इसलिए निर्माता भी दर्शकों की रुचि-रुझान को मद्देनज़र रखते हुए गुदगुदाने वाले, हैरतअंगेज कारनामे वाले, अवास्तविक दृश्य प्रस्तुत करते जाते हैं। फिल्म की सफलता का मापदण्ड फिल्म से कितनी आय हुई उस पर निर्भर करने लगा है। ऐसे माहौल में, जहाँ दर्शकों की रुचि में साहित्यिकता का अभाव हो, फिल्म-निर्माता साहित्य से दूर रहे यह नितांत स्पष्ट है। फिर भी समय-समय पर कुछ ऐसे प्रतिभावान सर्जक, निर्माता-निर्देशक आते रहे जो साहित्यिक रचनाओं को परदे पर उतार कर फिल्म को साहित्य से जोड़ते रहे। सत्यजित रे, बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी, केदार शर्मा, मणि कौल, गुलज़ार, श्याम बेनेगल आदि कुछ निर्देशक साहित्यिक रचनाओं पर आधारित कलापूर्ण फिल्में बनाते रहे।

साहित्यिक कृतियों पर आधारित हिन्दी सिनेरूपान्तरण में बंगाली व विदेशी कृतियों का अधिक प्रभुत्व रहा है। हिन्दी साहित्य पर आधारित फिल्मों की स्थिति संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। अब तक जो प्रयत्न हुए उनमें से भी अधिकतर फिल्में दर्शक जुटाने में विशेष सफल नहीं रही। हिन्दी साहित्य में कहानियों के सिनेरूपान्तरण में ‘शतरंज के खिलाड़ी’, ‘तीसरी कसम’, ‘उसने कहा था’, ‘रजनीगंधा’, ‘आंधी, ‘मौसम’ आदि उल्लेखनीय हैं। यहाँ इनमें से कुछ प्रमुख सिनेरूपान्तरणों की संक्षिप्त समीक्षा की गई है।

शतरंज के खिलाड़ी :

जिन हिन्दी साहित्यकारों की रचनाओं पर आधारित फिल्में निर्मित हुई हैं, उनमें मुंशी प्रेमचंद का नाम शीर्षस्थ हैं। ये अलग बात है कि प्रेमचंदजी बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में जाकर निराश होकर वापस लौट आये थे। उनके ‘गोदान’, ‘गबन’, ‘निर्मला’, ‘सेवासदन’ आदि उपन्यासों पर हिन्दी फिल्में बनी। इनके अलावा ‘शतरंज के खिलाड़ी’ तथा ‘सद्गति’ कहानियों का सत्यजित रे ने किया सिनेरूपान्तरण उल्लेखनीय हैं।

1924 ई. में 'माधुरी' में प्रकाशित 'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचंदजी की सफल कहानियों में से एक है । इसमें उन्नीसवीं शताब्दी में आये राजनीतिक संकट, मूल्य-विघटन, सामन्ती विलासिता, पतनशील मानसिकता आदि का चित्रण मिरजा सज्जाद अली और मीर रोशन अली के द्वारा किया गया है । दोनों जागीरदार मित्र पूरा दिन शतरंज के खेल में खोये रहते हैं । हवेली के नौकर-चाकर, बेगमें सब परेशान हैं, पर दोनों को शेष दुनिया से मानो कोई सरोकार नहीं । कहानी के अन्त में वाजिदअली शाह अंग्रेज फ़ौज द्वारा बंदी बना लिए जाते हैं । लेखक का यह मार्मिक वर्णन दृष्टव्य है –

> "शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट । एक बूंद भी खून नहीं गिरा था । आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी । यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं । यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं । अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था । यह राजनीतिक अधःपतन की चरमसीमा थी ।"[1]

अन्त में अपने नवाब या अवध की रक्षा हेतु नहीं, अपितु शतरंज के मोहरों के कारण दोनों मित्र एकदूसरे पर तलवार तान देते हैं और मारे जाते हैं ।

कोई भी साहित्यिक कृति जब किसी दूसरे रूप में परिवर्तित की जाती है, तब उसकी संरचना में बदलाव जरूरी होता है । उसमें भी जब एक कहानी परदे पर प्रस्तुत हो रही हो तब उसमें काफ़ी बदलाव करने पड़े, कुछ जोड़ना-बदलना पड़े यह सहज ही है । सिनेमा की अपनी एक भाषा होती है । संवाद के अतिरिक्त कैमरे की आँखों से बोलते दृश्य की विशेष भाषा होती है । सिनेरूपान्तरण के दौरान निर्देशक को यह ध्यान में रखना होता है कि कहानी में कथा के साथ दृश्य की जीवन्तता बनी रहे । निर्देशक रचना की अपनी समझ के अनुसार, अभिप्रेत अर्थ के अनुसार कथा में बदलाव करता है और उसे उचित बदलाव का अधिकार दिया भी जाना चाहिए । फिल्म दर्शकों के दम पर चलती है और दर्शक को आकर्षित करने भी कथा में परिवर्तन आवश्यक बन जाता है ।

श्रेष्ठ भारतीय फिल्म सर्जकों में शुमार भारत-रत्न सत्यजित रे अपनी प्रथम बंगाली फिल्म 'पथेर पांचाली' से ही विश्वभर में छा गए थे । उन्होंने अक्टूबर, 1977 में 'शतरंज के खिलाड़ी' नाम से फिल्म प्रदर्शित की । संजीव कुमार (मिरजा सज्जाद अली), सईद जाफ़री (मीर रोशन अली), शबाना आज़मी (मिरजा की बेगम), फ़रीदा जलाल (मीर की बेगम), अमजद खान (नवाब वाजिदअली शाह) तथा रिचार्ड एटनबरो (जनरल) आदि प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा अभिनीत और नैरेटर के रूप में अमिताभ बच्चन की आवाज़ में प्रदर्शित इस फिल्म में तत्कालीन लखनऊ, लखनवी तहज़ीब, ईस्लामी कला-स्थापत्य आदि प्रभावी ढ़ंग से प्रत्यक्ष होता है । संवाद, पटकथा, संगीत तथा निर्देशन आदि बहुमुखी जिम्मेदारियाँ संभालते हुए सत्यजित रे इस कहानी में नवाब के चरित्र का परिष्कार करते हैं । रे का नवाब मानवीय अपूर्णताओं से युक्त, कलाप्रेमी, प्रजा-वत्सल, साहित्यकार, संवेदनशील इन्सान के रूप में उभरकर सामने आता है । फिल्म के प्रारम्भ में नैरेटर की आवाज़

में गूंजता संवाद – "बादशाह बचाइए, बादशाह गया तो खेल ख़त्म", यह भावी संकेत अन्त में मूर्त रूप धारण करता है। कहानी में प्रेमचंद का नवाब बन्दी बनकर कायर की तरह जाता है, लेकिन सत्यजित रे के नवाब अपनी प्रजा का रक्त न बहें, इसलिए विवशतावश ताज प्रदान कर देते हैं। नवाब का दर्द और दर्प भरा कथन अंग्रेज को आँखें झुका लेने मजबूर करता है – "कम्पनी बहादुर, तू इस सर से ताज तो छीन लेगी, लेकिन हमारे सर को झुकाएगी कैसे ?" डेलहाउसी पंजाब, बर्मा, नेपाल की तरह गैरजिम्मेदाराना शासक का इल्ज़ाम लगाकर चेरी के फल की तरह अवध भी हड़प लेता है। फिल्म में वाजिदअली शाह की अम्मा बेगम और गवर्नर का मिलन, बेगम के करारें प्रश्न, अंग्रेजों की कूटनीति, कुत्सित राजनीति की कलई खोलता निर्देशक की कल्पना का चित्रण आकर्षित करता है।

मिरजा के नौकर-नौकरानी की अवधी बोली, लखनवी तहजीब, अंग्रेजों के अंग्रेजी संवाद तथा मिरजा-मीर के शतरंज के प्रेम को अधिक उभारने कुछ प्रसंग जोड़े हैं। मीर की पत्नी का अन्य पुरुष से अवैध सम्बन्ध मिरजा की पत्नी द्वारा उल्लेखित कर अधिक मुखर किया है। मीर को मूर्ख बनाने का फिल्मी-प्रसंग अन्त में सहायक सिद्ध होता है।

शहर छोड़ गोमती पार शतरंज खेलने भाग जाने का दृश्य निर्देशक की कल्पना का है। कहानी में गोमती पार मसजिद का वर्णन है, पर फिल्म में मसजिद मिलती नहीं तो दोनों इधर-उधर तलाशते हुए एक लड़के(कल्लू) के सहारे वीरान गाँव में चले जाते हैं। दोनों मित्रों के बीच झगड़े का कारण मीर की पत्नी के चरित्र पर मिरजा द्वारा उठाया संदेह बनता है और मीर रोशन अली तमंचा तान देता है। कल्लू दूर से 'गोरी पलटन....' यूँ चिल्लाता है तो मारे डर के मीर से गोली छूट जाती है, जो मिरजा के बाजू को छूती हुई निकल जाती है। कैमरे की जुबां में मीर के चेहरे पर झलक उठता पश्चाताप और बेबसी का दर्द साकार हो उठता है। "कौवे भी हमें ज़लील समझते हैं" कथन में मीर की बेबसी, पीड़ा, अन्तर्व्यथा दर्शक को द्रवित कर जाती है।

कहानी से विपरीत दोनों मित्रों को जिन्दा दर्शाकर निर्देशक और अधिक गहन संवेदना व्यक्त करने में सफल रहे हैं। प्रसून सिन्हा के मत से –

> "फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' सन् 1856 में वाजिद अली शाह की गिरी साख और उनका अंग्रेजी हुकूमत से समझौता करने की पृष्ठभूमि में शतरंज खेलते हुए दो नवाबों की आपसी शान-ओ-शौकत और उनके 'ईगो' की टकराहट की अनोखी प्रस्तुति थी। इन दो शतरंज के खिलाड़ियों के माध्यम से तत्कालीन परिवेश में बदलते हुए सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्यों को बड़े ही अनोखे ढ़ंग से दिखाया गया था।"[2]

सद्गति :

भारतीय समाज-व्यवस्था के घिनौने रूप में वर्णव्यवस्था और छुआछूत ने लाखों-करोड़ों लोगों को नारकीय जीवन जीने बाध्य किये। धर्म, भाग्यवाद, कर्मफल, कर्मकाण्ड आदि के चक्रव्यूह में फँसा मनुष्य अपने

विनाश तक बाहर नहीं निकल सकता। प्रेमचंद ने समाज में व्याप्त जातिभेद और अज्ञानता को आधार बनाकर सामाजिक व्यवस्था पर करारा प्रहार करती 'सद्गति' (1931 ई.) कहानी लिखकर अपने सामाजिक दायित्व को निभाया था। दुखी चमार और उसकी पत्नी झुरिया बेटी के विवाह हेतु मुहूर्त निकालने ब्राह्मण बुलाना चाहते हैं। दुखी जाता है ब्राह्मण के पास, लेकिन वो भूखे-प्यासे दुखी के पास दिनभर जी-तोड़ मजदूरी करवाता है। निर्दयी पण्डित की लकड़ी की गांठ चीरने का काम करते-करते दुखी की जान चली जाती है। संस्कारों के नाम पर धर्मभीरु, मानसिक गुलामी में डूबा समाज सर उठाकर विद्रोह भी नहीं कर पाता। विद्रोही (केवल शाब्दिक!) गोंड के डराए कोई चमार लाश लेने नहीं आते और अन्ततः मुँह-अँधेरे पण्डित को स्वयं लाश खींचनी पड़ती है। कहानी के अन्तिम दृश्य में उभरता बिम्ब सहृदयी भावक को झकझोर देता है –

> "...दुखी की लाश को खेत में गीदड़ और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोंच रहे थे। यही जीवन-पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था !"[3]

दूरदर्शन के लिए 1981 ई. में सत्यजित रे ने अपनी दूसरी हिन्दी फिल्म 'सद्गति' प्रदर्शित की। ग्रामीण परिवेश में बनी यह फिल्म दर्शक जुटा पाने में असफल रही। 52 मिनट की इस फिल्म में ओम पुरी (दुखी चमार), स्मिता पाटिल (झुरिया), मोहन अगाशे (ब्राह्मण), गीता सिद्धार्थ (ब्राह्मण पत्नी) तथा ऋचा मिश्रा (धनिया) ने भूमिका निभाई थी। सत्यजित रे ने पटकथा, संवाद (अमित राय के साथ), संगीत और निर्देशन की जिम्मेदारी उठाई थी।

गायों का सिवान में जाना और दुखी का ब्राह्मण के पास जाना एकसाथ दर्शाया जाता है। अन्त में एक ओर से गायें वापस लौटती हैं और दूसरी ओर से दुखी की मौत का सन्देश देने ब्राह्मण आता है, (झुरिया का पति नहीं लौटता) सूचक बन पड़ा है। (इक्कीसवीं शताब्दी के इस दूसरे दशक में गायों की रक्षा के नाम पर कथित गौ-भक्तों द्वारा मानव-हत्याओं की वारदातें सामने आ रही हैं। गरीब, दलित, पिछड़ी जातियों के लोगों की जान की किसी को कोई परवाह ही नहीं। मानो उनकी मौत कुत्ते-बिल्ली, भेड़-बकरियों की मौत हो !) फिल्म में पण्डित द्वारा गीता-प्रबोध तथा उपदेश धर्म की विसंगतता को उभारते हैं। ब्राह्मण बच्चे का समग्र घटनाक्रम को देखना, पारम्परिक संस्कारों के वाहक का प्रतीक महसूस होता है।

छुआछूत का विषाक्त जहर इतना व्याप्त हो गया है कि ब्राह्मण लकड़ी के द्वारा दुखी की लाश का पैर उठाता है और उसमें रस्सी का फंदा डाल कुत्ते-बिल्ली की तरह खींच ले जाता है। पशुओं की हड्डियों के ढेर के पास लाश छोड़ कर पण्डित घर, आंगन को गंगाजल से पवित्र करता है !

दुखी की बेचैनी, छटपटाहट, झुंझलाहट, दर्द, पीड़ा कैमरे की आँखों से मार्मिक रूप में उभरती है। झुरिया–धनिया के इंतज़ार के लम्हें और तैयारियों का दृश्य भी प्रभावी है। लेकिन पति के मौत के बाद झुरिया की पीड़ा उभर कर सामने नहीं आ पाई। विधवा झुरिया का पति की लाश के पास आना कहानी जितनी संवेदना नहीं जगा पाता। पण्डित के मिथ्या क्रियाकर्म पर व्यंग्य कसने में निर्देशक का कैमरा प्रभावहीन प्रतीत

होता है । समाज की संवेदनहीनता उभर कर सीधे दर्शकों के अन्तर्मन पर प्रहार करने में मानो असफल रहती है ।

तीसरी कसम :

प्रतिष्ठित रचनाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' रचित 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफ़ाम' चर्चित कहानियों में से एक है । पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता आया कुशल गाड़ीवान हिरामन और नौटंकी कम्पनी की हीराबाई के विशुद्ध आकर्षण, भावनात्मक लगाव की यह कहानी है । चोरबाजारी का माल लेकर गया हिरामन गाड़ी के साथ पकड़ा जाता है और गाड़ी छोड़, बैल लेकर भाग निकलता है, तब कसम खाता है कि कभी चोरबाजारी का माल गाड़ी में नहीं लादेगा । हिरामन एक बार शहर में बाँस लादकर गया था, जहाँ बाँस के आगे निकले हुए भाग को पकडे चल रहा आदमी स्कूल जाती लड़कियों की ओर देखने में खोया रहता है कि गाड़ी तांगे से टकरा जाती है । गाली और चाबुक खाए हिरामन ने दूसरी कसम खाई कि कभी गाड़ी में बाँस नहीं लदेंगे ।

सर्कस की बाघगाड़ी को खींचने वाले घोड़ों के मर जाने पर उसे खींचने का मौका हिरामन को मिल गया (कोई भी तैयार न होने पर) और उसमें किराये के मिले 100 रुपए से नयी टप्पर गाड़ी बनवा पाया । दूसरे वर्ष चम्पानगर के मेले से जनाना सवारी मिल जाती है फारबसगंज जाने की ! राह चलते नौटंकी कम्पनी की हीराबाई का परिचय होता है । गीत गाते, गुनगुनाते दोनों फारबसगंज पहुँचते हैं । हीराबाई हिरामन के निश्छल व्यक्तित्व से प्रभावित होती है । मेले में नौटंकी देखने हीराबाई हिरामन को पाँच पास देती है । हर रात हिरामन अपने साथियों के साथ हीराबाई को देखने पहुँच जाता है और आखिर एक दिन पता चलता है कि वह जा रही है । स्टेशन पर पहुँचे हिरामन को उसके पैसे लौटाते हुए हीराबाई गरम चादर खरीदने रुपए देना चाहती है, पर सबकुछ लूट जाने के बाद रुपए लेकर वह क्या करता ? हीराबाई से बिछड़ने का यह वर्णन दृष्टव्य है –

> "-छी-ई-ई—छक्क ! गाड़ी हिली । हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अँगूठे को बाएँ पैर की एड़ी से कुचल लिया । कलेजे की धड़कन ठीक हो गई ।.... हीराबाई हाथ की बैंगनी साफी से चेहरा पोंछती है । साफी हिलाकर इशारा करती है.... अब जाओ । .....आखिरी डिब्बा गुजरा; प्लेटफार्म खाली.... सब खाली....... खोखले....... मालगाड़ी के डिब्बे ! दुनिया ही खाली हो गई मानो !"[4]

अब मेले में हिरामन का मन नहीं रहता और वापस गाँव की ओर लौट पड़ता है, कम्पनी की औरत को गाड़ी में न लादने की तीसरी कसम खाते हुए !

सन् 1966 में मशहूर गीतकार शैलेन्द्रजी ने 'रेणु'जी के पास संवाद लिखवा कर इस कहानी पर आधारित फिल्म प्रदर्शित की । बासु भट्टाचार्य निर्देशित इस फिल्म में राजकपूर (हिरामन), वहीदा रहेमान (हीराबाई), दुलारी (हिरामन की भाभी), इफ़्तेख़ार (ज़मींदार विक्रमसिंह), कृष्ण धवन (लालमोहर), सी.एस.

दुबे (बिरजू) आदि ने भूमिका अदा की थी। शंकर-जयकिशन के संगीत में शैलेन्द्र और हसरत जयपुरी के गीत इतने लोकप्रिय हुए कि आज आधी शताब्दी के बाद भी लोगों की जुबां पर सजे रहते हैं।

फिल्म के प्रारम्भ में मुकेश के कर्णप्रिय स्वर में 'सजन रे झूठ मत बोलो...' दार्शनिक गीत(कहानी में बहुत बाद में आता है) की पृष्ठभूमि में बैलगाड़ियों का समूह 'Black & White' परदे पर सुन्दर दृश्य निर्मित करता है।

बासुजी का लक्ष्य हिरामन-हीराबाई के अन्तर्संघर्ष को दर्शाना अधिक रहा है, इसलिए वे कहानी के प्रारम्भ की घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में उतने गहरे नहीं उतरते। गाड़ी पकड़े जाने पर हिरामन का भागना, घर पहुँचना, बिना गाड़ी के किराये की गाड़ी पर काम करना आदि कहानी की तुलना में संक्षिप्त में दर्शाया गया है। बाघगाड़ी खींचने के प्रसंग को फिल्मांकित न करते हुए हिरामन की भाभी के साथ संवाद में उसे सूचित कर दिया है। बाँस की लदनी के वक्त घोड़ागाड़ी से टकराहट शहर में न होकर राह जाते दर्शायी गई है।

कहानी से अलग हिरामन की नज़र सबसे पहले हीराबाई के पैरों पर पड़ती है, जब वह गाड़ी में सवार हो रही होती है और हिरामन बत्ती जलाने नीचे बैठा होता है। गाड़ी में हीराबाई का नौटंकी का संवाद पढ़ना (प्यारे गुलफ़ाम...) और हिरामन विरही नायिका के दर्द को अभिव्यक्त करता गीत "सजनवा बैरी हो गए हमार...." गाता है। पारस्परिक परिचय में हीराबाई का दर्द झलक उठता है। कजरी नदी के किनारे दोनों उतरते हैं, और वहाँ नहाने के प्रसंग पर हिरामन नायिका को 'कुँवारी' मानते हुए उस घाट पर नहाने से रोकता है। 'कुँवारी' सुनने पर हीराबाई का क्लोज-अप बहुत कुछ बयाँ कर जाता है। महुआ घटवारिन का कहानी में उल्लेख परमार नदी के सन्दर्भ में होता है, सिनेमा में कजरी नदी के प्रसंग में बात होती हैं। ननपुर के रास्ते में गाड़ी रोककर हिरामन महुआ की दर्दभरी दास्ताँ (कहानी से अलग गीत में) सुनाता है। हसरत जयपुरी के लिखे गीत "दुनिया बनानेवाले...काहे को दुनिया बनाई..." के दर्द में महुआ की कथा दोनों की आँखें भर देती हैं। (महुआ की कथा भी कहानी में वर्णित कथा से थोड़ी अलग है।) 30 घंटे का सफर काट कर मेले में पहुँचे दोनों एकदूसरे पर स्वयं से अधिक विश्वास करने लगे थे। मेले में हिरामन के साथियों द्वारा गाया जा रहा गीत "पिंजरे वाली मुनिया..."(स्वर-मन्ना डे, गीतकार-शैलेन्द्र) परिवेश को अधिक संवेदनशील बनाता है।

मेले में पास लेकर नौटंकी देखने पहुँचे हिरामन और उसके साथियों की हीराबाई के लिए 'रंडी' शब्द सुनकर हाथापाई होती है। फिर निर्देशक की कल्पना की कहानी प्रस्तुत होती है, जिसमें हीराबाई अपने 'मीता' को बुलाकर डाँटती है कि "तुम होते कौन हो ?....क्या हक है तुम्हें ?", सुनकर हिरा नाराज हो जाता है। दूसरी रात नौटंकी देखने भी नहीं जाता। तीसरे दिन हीराबाई अपने हाथों से खाना बनाकर खिलाती है, तब जाकर हिरा का गुस्सा शांत होता है।

फिल्म में ज़मींदार विक्रमसिंह का प्रसंग सामन्ती विलासिता और नारी-शोषण को उजागर करता है। नौटंकी छोड़कर सर्कस कम्पनी में चले जाना कहने गए हिरामन को लेकर हीराबाई घूमने निकलती है। कहानी में मेले में जा रहे होते हैं तब तेगछिया गाँव के बच्चे जो गीत गाते हैं, उसका फिल्मांकन यहाँ किया गया

है, जो अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है । “लाली लाली डोलिया में लाली रे दुलहिनिया....” के दौरान हीराबाई के चेहरे-आँखों के भाव जो बयाँ करते हैं, कदाचित् भाषा - संवाद के द्वारा वह कदापि व्यक्त न हो पाए ! वापस लौटते वक्त गाड़ी में रह गई ‘शोल’ देने जब हिरामन तम्बू में जाता है तो वहाँ बिरजू के साथ ज़मींदार आ जाता है । बिरजू हिरामन को अपमानित कर बाहर निकालते हुए सुनाता है – “रहना झोंपड़े में और सपने महलों के देखना” । हिरामन आहत् होकर गुस्से में भरा घर चला आता है । दूसरी ओर हीराबाई ज़मींदार को अपमानित कर निकाल देती है ।

उस रात हीराबाई नौटंकी में “आ.. आ भी जा...रात ढलने लगी...” गाते हुए, तो घर में खटिया में पड़ा हिरा उसकी याद में तड़पता है । फिल्म का यह दृश्य दोनों की चाहत की पराकाष्ठा का सूचक बनकर उभरता है । उस रात जबरदस्ती पर उतर आये ठाकुर विक्रमसिंह का मुकाबला कर हिरा भाग जाती है और सबको नौटंकी छोड़ देने का निर्णय सुनाती है । बिरजू समझाते हुए कहता है - “हीरादेवी को कोई चाहने वाला न हो और हीराबाई को कोई देखनेवाला न हो, ऐसा न हो जाये !”, साथ में ज़मींदार की धमकी भी याद दिलाता है कि वे हिरामन को मरवा भी दे सकते हैं ! ‘अठन्नी खर्च कर कोई भी देख सकता है, उसे वह दुनिया की नज़रों से बचाकर लाया’, उसकी खातिर मरने-मारने पर उतर आये अपने ‘मीता’ को छोड़ना उसके लिए दुष्कर बन जाता है, लेकिन वह मानती है कि, हिरा को धोखे में रखने सती सावित्री का नाटक उससे हो नहीं पायेगा और लैला वह बन नहीं सकती ! आखिर हिरा का सपना न टूटे इसलिए कम्पनी छोड़ देने का फैसला लेती है ।

घर से वापस मेले में आये हिरामन को जब पता चलता है कि हीराबाई ने ज़मींदार का अपमान करते हुए बाहर निकाल दिया और वह अब जा रही है तो हिरा रेलवे स्टेशन की ओर गाड़ी दौड़ाता है । स्टेशन पर दोनों का अन्तिम मिलन और जुदाई का दृश्य दर्शकों की आँखों में नमी भर देता है । मीता का बटुआ वापस देने के साथ अपनी याद की निशानी के रूप में हीरा शोल देती है । गाड़ी का चलना और बारी-बारी दोनों के चेहरे-आँखों का क्लोज-अप शॉट स्मरणीय बन जाता है । वापस घर की ओर लौटते हिरा को गाड़ी में हीरा का अहसास होता है और तीसरी कसम खाता है, कम्पनी की औरत को गाड़ी में न लादने की !

इस फिल्म के सन्दर्भ में राजेन्द्र सहगल लिखते हैं –

> “...बासु भट्टाचार्य ने गीतकार शैलेन्द्र द्वारा निर्मित ‘तीसरी कसम’ का निर्देशन इस कुशल तरीके से किया कि फिल्म देखना एक भावपूर्ण कविता को अन्तर्मन से महसूस करने की तरह हो गया ।...... यह फिल्म भले ही अधिक दर्शक नहीं जुटा पाई, पर गुणवत्ता की दृष्टि से यह एक मील का पत्थर साबित हुई । इसे कई राष्ट्रीय पुरस्कार मिलने के साथ-साथ राष्ट्रपति पदक भी मिला । ‘तीसरी कसम’ के हिरामन गाड़ीवान का नौटंकी की बाई के प्रति निश्छलता और निष्पाप प्रेम उस अतीन्द्रियता और इहलौकिकता का एहसास कराता है, जिसकी कल्पना कभी स्वच्छन्दतावादी कवियों ने की थी । इसी फिल्म की निर्देशकीय कौशलता ने सिद्ध कर दिया कि बासुदा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जटिलताओं, संश्लिष्टताओं की बारीक बुनावट को बड़ी ही ईमानदारी और निस्संगता से पकड़ने में माहिर है ।”[5]

फिल्म में राजकपूर और वहीदा रहेमान का अभिनय उन्हें चिरकालीन स्मरणीय बना देता है। हिरा के रूप में 'इस्स्स' का उच्चारण करते राजकपूरजी दर्शकों में इस फिल्म के द्वारा अपनी एक अलग भूमिका स्थापित करने में सफल रहे थे।

हीराबाई का दर्द, विवशता उभारने में वहीदाजी पूर्ण रूप से सफल रही। उनके यादगार अभिनय के साथ कुछ संवादों के निम्नोक्त अंश सिनेमा होल में बैठे दर्शकों को द्रवित कर जाते थे -

हिरामन से गाड़ी में कहती है - "ये बात और है कि जिसकी सारी दुनिया होती है, उसका कोई नहीं होता।"
कम्पनी की सहेली से कहती है - "हम लैला का पार्ट ही अदा करेंगें, कभी लैला बन नहीं पायेंगें।"
ज़मींदार को सुनाती है – "वे भी (हिरामन) कहाँ मुझे समझते हैं ? आपकी नज़र में मैं एक बाजारू औरत हूँ, उनकी नज़र में देवी !"

प्रस्तुत सिनेरूपान्तरण भले दर्शकों को ना लुभा पाया, लेकिन उसके लिए दर्शकों की मानसिकता जिम्मेदार रही, निर्देशक या कलाकारों की खोट नहीं ! जैसा कि पहले बताया फिल्म दर्शकों के आधार पर चलती है। साहित्यिक रचना महान हो तो उस पर आधारित सिनेरूपान्तरण भी सफल रहे, ऐसा जरूरी नहीं। व्यावसायिक फिल्मों में आकंठ डूबे हिन्दी फिल्म के दर्शक कलापूर्ण फिल्म से एक प्रकार की विरक्ति का भाव रखते आये हैं। फिल्म-वितरक भी साहित्यिक फिल्म के वितरण में उदासीनता बरतते हैं। निर्माता एवं निवेशकों का लक्ष्य भी रुपया कमाना होता है। अतः कलात्मक फिल्में लोकप्रिय व्यावसायिक सिनेमा का मुकाबला नहीं कर पाई। लेकिन पुनः कुछ ऐसे निर्माता-निर्देशक उभर रहे हैं जो सिनेमा को कलात्मकता की ओर ले जा रहे हैं, यह सुखद संकेत है।

सन्दर्भ संकेत :

1. मानसरोवर, भाग-3, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1987, पृ. 235
2. भारतीय सिनेमा....एक अनन्त यात्रा, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 2006, पृ. 131
3. मानसरोवर, भाग-4, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1987, पृ. 23
4. प्रतिनिधि कहानियाँ, ('रेणु'), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1994, पृ. 145
5. सिनेमा : वक्त के आईने में, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 2011, पृ. 118 -119

रवीन्द्र अमीन, एसोसियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कॉलेज, देहगाम, जिला:- गांधीनगर ।
सम्पर्क सूत्र :- 9824662828 ravi6003@gmail.com